



भारत सरकार

भारत

का

विधि

आयोग

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 से धारा 213 के लोप का प्रस्ताव

रिपोर्ट सं. 209

जून, 2008



## भारत का विधि आयोग

(रिपोर्ट सं. 209)

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 से धारा 213 के लोप का प्रस्ताव

डा. न्यायमूर्ति एआर. लक्ष्मणन, अध्यक्ष, भारत का विधि आयोग द्वारा 30 जुलाई, 2008 को केन्द्रीय विधि और न्याय मंत्री, विधि और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार को प्रस्तुत ।

18वें विधि आयोग का गठन भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय, विधि कार्य विभाग, नई दिल्ली के आदेश संख्या ए.45012/1/2006-प्रशा. III (एल ए) तारीख 16 अक्टूबर, 2006 द्वारा 1 सितम्बर, 2006 से तीन वर्ष के लिए किया गया ।

विधि आयोग अध्यक्ष, सदस्य-सचिव, एक पूर्णकालिक सदस्य और छह अंशकालिक सदस्यों से मिलकर बना है ।

अध्यक्ष

माननीय न्यायमूर्ति डा. एआर. लक्ष्मणन, अध्यक्ष

सदस्य-सचिव

डा. ब्रह्म ए. अग्रवाल

पूर्णकालिक सदस्य

प्रोफेसर (डा.) ताहिर महमूद

अंशकालिक सदस्य

डा. (श्रीमती) देविन्दर कुमारी रहेजा

डा. के. एन. चन्द्रशेखरन पिल्लै

प्रोफेसर (श्रीमती) लक्ष्मी जामभोलकर

श्रीमती कीर्ति सिंह

न्यायमूर्ति आई. वेंकटनारायण

श्री ओ. पी. शर्मा

डा. (श्रीमती) श्यामला पप्पू

विधि आयोग आई. एल. आई. बिल्डिंग, द्वितीय तल, भगवानदास रोड,  
नई दिल्ली-110001 पर स्थित है।

विधि आयोग के कर्मचारिवृंद

सदस्य-सचिव

डा. ब्रह्म ए. अग्रवाल

अनुसंधान कर्मचारिवृंद

श्री सुशील कुमार	:	संयुक्त सचिव और विधि अधिकारी
कुमारी पवन शर्मा	:	अपर विधि अधिकारी
श्री जे. टी. सुलक्षण राव	:	अपर विधि अधिकारी
श्री श्रवण कुमार	:	उप विधि सलाहकार
श्री ए. के. उपाध्याय	:	उप विधि सलाहकार
डा. वी. के. सिंह	:	सहायक विधि अधिकारी
श्री सी. राधाकृष्णन	:	सहायक सरकारी अधिवक्ता

प्रशासनिक कर्मचारिवृंद

श्री डी. चौधरी	:	अवर सचिव
श्री एस. के. बसु	:	अनुभाग अधिकारी
श्रीमती रजनी शर्मा	:	सहायक पुस्तकालय और सूचना अधिकारी

इस रिपोर्ट का पाठ <http://www.lawcommissionofindia.nic.in>  
पर इन्टरनेट पर उपलब्ध है ।

© भारत सरकार

भारत का विधि आयोग

इस दस्तावेज का पाठ (सरकारी चिह्न के सिवाय) इस शर्त के अधीन किसी प्ररूप या माध्यम में निःशुल्क पुनरुत्पादित किया जा सकता है बशर्ते कि यह ठीक-ठीक पुनरुत्पादित किया गया है और भ्रामक संदर्भ में प्रयोग नहीं किया गया है । सामग्री की अभिस्वीकृति भारत सरकार कापीराइट और विनिर्दिष्ट दस्तावेज के शीर्षक के रूप में की जाए ।

इस रिपोर्ट से संबंधित कोई पूछताछ सदस्य-सचिव, भारत का विधि आयोग, द्वितीय तल, आई. एल. आई. भवन, भगवानदास रोड, नई दिल्ली-110001, भारत या ई-मेल : [Ici-dla@nic.in](mailto:Ici-dla@nic.in) को संबोधित की जाए ।

डा. न्यायमूर्ति एआर. लक्ष्मणन  
(भूतपूर्व न्यायाधीश, भारत का  
उच्चतम न्यायालय)  
अध्यक्ष, भारत का विधि आयोग

आई.एल.आई. भवन  
(द्वितीय तल)  
भगवान दास रोड,  
नई दिल्ली-110001

दूरभाष- 91-11-22384475

फैक्स - 91-11-23383564

अर्ध शा.सं. 6(3)140/2008-एल सी(एल एस) 30 जुलाई, 2008.

प्रिय डा. भारद्वाज जी,

विषय:- भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 से धारा 213 के  
लोप का प्रस्ताव ।

मुझे उपरोक्त विषय पर भारत के विधि आयोग की 209वीं रिपोर्ट  
पेश करते हुए बड़ी प्रसन्नता है ।

भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2002 (2002 का 26)  
ने भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 32 (ऐसी संपत्ति का  
न्यागत होना) और धारा 213 (निष्पादक या वसीयतदार के रूप में  
अधिकारिता कब स्थापित होती है) को संशोधित किया । धारा 32 के  
स्पष्टीकरण का लोप किया गया जिसके द्वारा क्रिश्चियन विधवा को अपने  
पति की संपदा में के उसके वितरणीय अंश का उत्तराधिकार पाने से  
अपवर्जित करने से उन्मुक्त किया गया चाहे उसके विवाह के पूर्व उस  
आशय की विधिमान्य संविदा की गई हो । धारा 213 की उपधारा (2) में  
“मुस्लिमों” शब्द के पश्चात् “या भारतीय क्रिश्चियनों” शब्द अंतःस्थपित

किए गए । उक्त उप-धारा (2) का आरंभिक भाग इस प्रकार है :-

“ 2) यह धारा मुस्लिमों या भारतीय क्रिश्चियनों द्वारा किए गए विलों के मामले में लागू नहीं होगी और ..... को लागू नहीं होगी । ”

परिणाम यह है कि धारा 213 की उपधारा (1) का उपबंध जो निष्पादक या वसीयतदार के रूप में अधिकार स्थापित करने के लिए सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा उपाबद्ध विल की प्राधिकृत प्रति के साथ ऐसे विल के प्रोबेट या विल के साथ प्रशासन पत्र की मंजूरी को आवश्यक बनाता है, अब न केवल मुस्लिमों द्वारा बल्कि भारतीय क्रिश्चियनों द्वारा भी किए गए विलों को लागू नहीं है । लेकिन यह उपबंध निम्न को लागू बना हुआ है -

- (i) किसी हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख या जैन द्वारा किए गए विलों की दशा में जहां ऐसे विल धारा 57 के खंड (क) और (ख) में विनिर्दिष्ट वर्गों के हैं अर्थात्, 1 सितम्बर, 1870 को या उसके पश्चात् ऐसे राज्यक्षेत्रों में किए गए विल या कोडपत्र जो उक्त तारीख को बंगाल के लैफ्टिनेन्ट गवर्नर के अधीन या मद्रास और मुंबई उच्च न्यायालय की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता के भीतर आते थे और ऐसे सभी विलों और कोडपत्रों को जो ऐसे राज्यक्षेत्र या सीमाओं के बाहर किए गए हैं, जहां तक उनका संबंध उन राज्यक्षेत्रों या सीमाओं के भीतर स्थित स्थावर संपत्ति से है ; और

(ii) भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 1962 के प्रारंभ के पश्चात् मरने वाले किसी पारसी द्वारा किए गए विलों के मामलों में, जहां ऐसे विल कलकत्ता, मद्रास और मुंबई स्थित उच्च न्यायालयों की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर किए गए हैं और जहां ऐसे विल उन सीमाओं के बाहर किए गए हैं वहां जहां तक उनका संबंध उन सीमाओं के भीतर स्थावर संपत्ति से है।

मूल अधिनियम के अधीन मुस्लिमों द्वारा किए गए विलों की बाबत छूट मुस्लिम स्वीय विधि के कारण थी। किसी भारतीय क्रिश्चियन, हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख या जैन द्वारा किए गए विलों के संबंध में अधिनियम की असंशोधित धारा 213 के अधीन अधिरोपित अनुबंध औपनिवेशिक शासन की बपौती थी जिसका विस्तार 1962 में पारसी को किया गया था। भारतीय क्रिश्चियनों द्वारा निष्पादित विलों के विरुद्ध विभेद को संपूर्ण भारत आधार पर 2002 के संशोधन द्वारा दूर कर दिया गया है।

हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन या पारसी द्वारा किए गए विलों की बाबत, जहां ऐसे विल कलकत्ता, मद्रास और बम्बई उच्च न्यायालय की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता के राज्यक्षेत्र के भीतर किए गए हैं और जहां ऐसे विल उन राज्यक्षेत्रों के बाहर किए गए हैं और जहां तक वे उन राज्यक्षेत्रों के भीतर स्थित स्थावर संपत्तियों से संबंधित हैं, विभेद है। उन सीमाओं के बाहर स्थित संपत्ति की बाबत हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन और पारसी द्वारा निष्पादित विलों की बाबत प्रोबेट या प्रशासन पत्र अभिप्राप्त करने पर बल देना अतार्किक है। चूंकि जहां तक एक ओर मुस्लिम और



क्रिश्चियन और दूसरी ओर हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन और पारसी का इससे संबंध है, धारा 213 के लागू होने में एकरूपता नहीं है इसलिए आयोग ने कानून से संपूर्ण धारा 213 को निरसित करने और असमानता/विभेद को हटाने और एकरूपता अभिप्राप्त करने की सिफारिश करने का संकल्प किया है। भारत की जनता के मुख्य भाग अर्थात् हिन्दू आदि के समता के दावे की उपेक्षा करने का कोई सहज कारण प्रतीत नहीं होता है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 15 का यह कथन है कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इसमें से किसी के आधार पर विभेद नहीं करेगा।

आयोग यह रिपोर्ट तैयार करने में न्यायमूर्ति एस. ए. कादेर, भूतपूर्व न्यायाधीश, मद्रास उच्च न्यायालय और वरिष्ठ अधिवक्ता, भारत का उच्चतम न्यायालय, अब चेन्नई में, द्वारा दी गई प्रतिभा-संपन्न सहायता को अभिलेखबद्ध करता है।

सादर,

भवदीय,

ह/-

डा. एच. आर. भारद्वाज,  
केन्द्रीय विधि और न्याय मंत्री,  
भारत सरकार, शास्त्री भवन  
नई दिल्ली-110001

( एआर. लक्ष्मणन )

भारत का विधि आयोग

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 से धारा 213 के लोप  
का प्रस्ताव

विषय सूची

	पृष्ठ
1. प्रस्तावना	11
2. असमानता	21
3. सिफारिश	30

## भारत का विधि आयोग

### भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 से धारा 213 के लोप

#### का प्रस्ताव

#### 1. प्रस्तावना

1.1 माननीय न्यायमूर्ति एस. ए. कादेर, भूतपूर्व न्यायाधीश मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा लिखित “भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2002 का 26 – हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन और पारसी के विरुद्ध यह विभेद क्यों?” शीर्षक एक लेख 2003 (जिल्द 2) में ला वीकली, मद्रास के जर्नल भाग के पृष्ठ 35 पर प्रकाशित किया गया। पूरे लेख को यहां नीचे पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है :-

“ भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2002 जिसे 27 मई, 2002 को राष्ट्रपति की सहमति मिल गई और 22.11.2002 को भारत के राजपत्र में प्रकाशित हो गया, ने मूल अधिनियम की धारा 32 और धारा 213(2) को संशोधित किया जो इस प्रकार था :-

“ 32. ऐसी संपत्ति का न्यागत होना – किसी निर्वसीयती की संपत्ति मृतक की पत्नी या पति पर या उसके रक्त संबंधियों पर इस अध्याय में इसके पश्चात् अंतर्विष्ट क्रम और नियमों के अनुसार न्यागत होगी।

स्पष्टीकरण :- कोई विधवा उसके लिए इसके द्वारा किए गए उपबंध की हकदार नहीं है, यदि विवाह के पूर्व

की गई वैध संविदा द्वारा उसे उसके पति की संपदा में के उसके वितरणीय अंश से अपवर्जित कर दिया गया है ।

[यह धारा हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन और पारसी को लागू नहीं होती । यह केवल भारतीय क्रिश्चियनों को ही लागू होती है ।]

धारा 213.

“213 - निष्पादक या वसीयतदार के रूप में अधिकारिता कब स्थापित होती है - निष्पादक या वसीयतदार के रूप में कोई अधिकार किसी न्यायालय में तब तक स्थापित नहीं किया जा सकता है जब तक [भारत] के सक्षम अधिकारिता वाले किसी न्यायालय ने ऐसी विल का प्रोबेट, जिसके अधीन उस अधिकार का दावा किया गया है, अनुदत्त न किया हो या विल उपाबद्ध करके या विल की प्राधिकृत प्रति की हक प्रति उपाबद्ध करके प्रशासन-पत्र अनुदत्त न किया हो ।

(2) यह धारा मुस्लिमों द्वारा किए गए विलों के मामलों में लागू नहीं होगी और केवल निम्नलिखित मामलों में लागू होगी :-

- (i) किसी हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख या जैन द्वारा किए गए विलों के मामलों में, जहां ऐसे विल धारा 57 के खंड (क) और (ख) में विनिर्दिष्ट वर्गों के हैं ; और

(ii) भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 1962 (1962 का 16) के प्रारंभ के पश्चात् मरने वाले किसी पारसी द्वारा किए गए विलों के मामलों में, जहां ऐसे विल कलकत्ता, मद्रास और मुंबई स्थित उच्च न्यायालयों की [मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता] की स्थानीय सीमाओं के भीतर किए गए हैं और जहां ऐसे विल उन सीमाओं के बाहर किए गए हैं वहां जहां तक उनका संबंध उन सीमाओं के भीतर स्थित स्थावर सम्पत्ति से है।”

2. 2002 के संशोधन अधिनियम 26 के उद्देश्यों और कारणों का कथन इस प्रकार है :-

“भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 का उद्देश्य वसीयती और निर्वसीयत उत्तराधिकार विषयक भारतीय विधि को समेकित करना था। इस अधिनियम की धारा 32 क्रिश्चियन विधवा को निर्वसीयत मरने वाले अपने मृतक पति की संपत्ति का उत्तराधिकार पाने के एक वारिस के रूप में मान्यता प्रदान करती है। तथापि, उक्त धारा के स्पष्टीकरण में यह उपबंध है कि कोई विधवा ऐसे वितरणीय अंश का उत्तराधिकार पाने की हकदार नहीं होगी यदि उसके विवाह के पूर्व उस आशय की की गई कोई विधिमान्य संविदा है। केरल महिला आयोग और कुछ गैर-सरकारी संगठनों ने यह इंगित किया है कि संविदा के आधार पर उसके वितरणीय अंश से किसी क्रिश्चियन विधवा को अपवर्जित करने

वाला अधिनियम का यह उपबंध विभेदकारी है और उन लोगों ने सुझाव दिया कि प्रतिकूल किसी संविदा के होते हुए भी उसे अपने वितरणीय अंश के उत्तराधिकार का हकदार होना चाहिए ।

इस अधिनियम की धारा 213 की यह अपेक्षा है कि विल के निष्पादक या वसीयतदार के रूप में अधिकार का दावा करने वाला कोई व्यक्ति तब तक विल के अधीन किसी न्यायालय में ऐसा अधिकार स्थापित नहीं कर सकता है जब तक उसे सक्षम अधिकारिता के न्यायालय द्वारा उसे विल का प्रोबेट या विल उपाबद्ध करके या विल की प्राधिकृत प्रति के साथ प्रशासन पत्र अनुदत्त न किया गया हो । विल के अधीन अधिकारों के स्थापित करने के लिए मुस्लिमों को ऐसे किसी प्रोबेट या प्रशासन पत्र की अपेक्षा नहीं है न ही अखिल भारत आधार पर अन्य समुदायों के मामलों में ऐसी कोई अपेक्षा है । भारत का विधि आयोग, केरल महिला आयोग, क्रिश्चियन समुदाय के संसद सदस्यों और विभिन्न अन्य व्यक्तियों और संगठनों ने इंगित किया और सरकार को अभ्यावेदन किया है कि यह उपबंध विभेदकारी है और एकमात्र क्रिश्चियनों को लागू नहीं होना चाहिए ।

सरकार द्वारा विषय पर विचार किया गया और निम्नलिखित विनिश्चय किया गया :-

- (क) धारा 32 के स्पष्टीकरण को हटाया जाए ; और
- (ख) भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 का

संशोधन करके धारा 213 भारतीय क्रिश्चियनों को अनुपयोज्य बनाया जाए। विधेयक उक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए है।”

3. भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 2002 की धारा 2 मूल अधिनियम की धारा 32 के स्पष्टीकरण को हटाता है और तद्वारा क्रिश्चियन विधवा को अपने पति की संपत्ति के वितरणीय अंश का उत्तराधिकार पाने के वर्जन से मुक्त करता है चाहे विवाह के पूर्व उस आशय की की गई कोई विधिमान्य संविदा हो। यह वस्तुतः एक स्वागतयोग्य संशोधन है जिसके द्वारा क्रिश्चियन विधवाओं के विरुद्ध विभेद को दूर किया गया है।

4. संशोधन अधिनियम, 2002 की धारा 3 द्वारा मूल अधिनियम की धारा 213(2) में “मुस्लिमों” शब्द के पश्चात् “या भारतीय क्रिश्चियनों” शब्द अंतःस्थापित किए गए, जो अब इस प्रकार है :-

“ यह धारा मुस्लिमों या भारतीय क्रिश्चियनों द्वारा किए गए विलों के मामलों में लागू नहीं होगी और केवल निम्नलिखित को लागू होगी -

.....

(ii) .....।”

5. परिणाम यह है कि धारा 213 की उपधारा (1) का उपबंध जो निष्पादक या वसीयतदार के रूप में अधिकार स्थापित करने के लिए सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा उपाबद्ध विल की प्राधिकृत प्रति की प्रति

के साथ ऐसे विल के प्रोबेट या विल के साथ प्रशासन पत्र की मंजूरी आवश्यक बनाता है, अब न केवल मुस्लिमों द्वारा बल्कि भारतीय क्रिश्चियनों द्वारा भी बनाए गए विलों को लागू नहीं है। लेकिन यह उपबंध निम्न को लागू बना हुआ है -

- (i) किसी हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख या जैन द्वारा किए गए विलों की दशा में जहां ऐसे विधेयक धारा 57 के खंड (क) और (ख) में विनिर्दिष्ट वर्गों के हैं अर्थात्, अर्थात्, 1 सितम्बर, 1870 को या उसके पश्चात् ऐसे राज्यक्षेत्रों में किए गए विल या कोडपत्र जो उक्त तारीख को बंगाल के लैफ्टिनेन्ट गवर्नर के अधीन या मद्रास और मुंबई उच्च न्यायालय की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता के भीतर आते थे और ऐसे सभी विलों और कोडपत्रों को जो ऐसे राज्यक्षेत्र या सीमाओं के बाहर किए गए हैं, जहां तक उनका संबंध उन राज्यक्षेत्रों या सीमाओं के भीतर स्थित स्थावर संपत्ति से है ; और
- (ii) भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 1962 के प्रारंभ के पश्चात् मरने वाले किसी पारसी द्वारा किए गए विलों के मामलों में, जहां ऐसे विल कलकत्ता, मद्रास और मुंबई स्थित उच्च न्यायालयों की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर किए गए हैं और जहां ऐसे विल उन सीमाओं के बाहर किए गए हैं वहां जहां उनका संबंध उन सीमाओं के भीतर स्थावर



संपत्ति से है ।

6. मूल अधिनियम के अधीन मुस्लिमों द्वारा किए गए विलों की बाबत छूट मुस्लिम स्वीय विधि के कारण था । किसी भारतीय क्रिश्चियन, हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख या जैन द्वारा किए गए विलों के संबंध में अधिनियम की असंशोधित धारा 213 के अधीन अधिरोपित अनुबंध औपनिवेशिक शासन की बपौती थी जिसका विस्तार 1962 में पारसी को किया गया है । भारतीय क्रिश्चियनों द्वारा निष्पादित विलों के विरुद्ध विभेद को संपूर्ण भारत आधार पर 2002 के संशोधन द्वारा दूर कर दिया गया है । केरल में भारतीय क्रिश्चियनों के विरुद्ध इस विभेद को पहले ही 14.3.1997 से 1997 के केरल अधिनियम सं. 1 द्वारा दूर कर दिया गया है । हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन या पारसी द्वारा किए गए विलों की बाबत विभेद सीमित रूप में बना हुआ है अर्थात् जहां विल कलकत्ता, मद्रास और बम्बई उच्च न्यायालयों की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता के भीतर किए गए हैं और जहां ऐसे विल उन राज्यक्षेत्रों के बाहर किए गए हैं और जहां तक वे उन राज्यक्षेत्रों के भीतर स्थित स्थावर संपत्ति के संबंध में है । यह विभेद संविधान के अनुच्छेद 15 के अधीन अभिखंडनीय है जो धर्म, मूलवंश, जाति या जन्मस्थान के आधारों पर विभेद का प्रतिषेध करता है । क्या संसद इस विसंगति पर विचार करेगा और संपूर्ण धारा 213(1) और (2) को निरसित करेगा?

1.2 उपरोक्त लेख पर ला वीकली मद्रास, 2003(2) पृष्ठ 57 (जे एस) पर एक टिप्पण प्रकाशित किया जिसे भी यहां नीचे दोहराया जा रहा है —

“ हमारे देश की वादकारी जनता और यहां तक कि

हमारे विधि क्षेत्र से जुड़े बन्धु भी श्री एस. के. कादेर, हमारे उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश के इस कार्य “भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम 26 का 2002 – हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन और पारसी के विरुद्ध यह विभेद क्यों?” के प्रति बहुत आभारी हैं जिसे हमने अपने जर्नल भाग के (इस जिल्द के भाग 4 में) पृष्ठ 35 जे. एस. से 37 जे. एस. पर प्रकाशित किया ।

हमने स्वयं यह ध्यान दिया था कि ए. आई. आर. के 2002 नवम्बर के जर्नल भाग के पृष्ठ 120 पर 2002 के अधिनियम का संशोधनकारी अधिनियम 26 का पाठ प्रकाशित किया गया था ।

हमें संदेह था कि स्वयं भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 एक समेकित अधिनियम था जिस पर 30 सितम्बर, 1925 को तत्कालीन सपरिषद् गवर्नर जनरल द्वारा सहमति दी गई थी और इसके अधिनियमन के 77 वर्ष पश्चात् यह संशोधन क्यों किया गया जबकि इसके पहले का अधिनियम 1865 का अधिनियम था ।

हम अपना कार्य ठीक तरह से करने में असफल रहे जिसे हम केवल सुविधाओं की कमी मान सकते हैं और जिसे नवयुवक महानुभाव श्री कादेर द्वारा प्रकट किया गया जो केवल 76 वर्ष के हैं और विधिक अनुसंधान के प्रति वचनबद्ध हैं । यह कि उन्होंने 4.11.1988 को न्यायालय की न्यायपीठ की अपनी सीट

से अपने सेवानिवृत्ति भाषण में **थामस गे** से उद्धृत किया जो केवल एक घटना हो सकती है ।

संसद ने वर्ष 2001 में ही अपने समक्ष प्रस्तुत विधेयक को पारित कर दिया था और राष्ट्रपति ने इस पर अपनी सहमति 27.5.2002 को दी थी लेकिन केन्द्रीय सरकार का विधि या विधायी विभाग इस अधिनियमिति को 22.11.2002 को ही भारत के राजपत्र में मुद्रित करा सका ।

श्री कादेर संशोधनकारी विधेयक/अधिनियम के उद्देश्यों और कारणों के कथन को ढूढ़ने में सफल रहे । संसद द्वारा चुनिंदा दृष्टिकोण केवल उन्हीं लोगों की सहायता के लिए था जिन्होंने अपनी जोरदार आवाज उठायी जैसा स्पष्टतः इस उपाय के लिए उद्देश्यों और कारणों को देखने मात्र से प्रकट होता है ।

श्री कादेर का यह निष्कर्ष कि वर्तमान भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के उपबंध स्पष्टतः विभेदकारी हैं और उच्च न्यायालय (न्यायालयों) द्वारा अभिखंडित किए जाने की अपेक्षा है, एकमात्र विकल्प प्रतीत होता है ।

22.2.2001 को भारत के उच्चतम न्यायालय (न्यायमूर्ति राजेन्द्र बाबू और न्यायमूर्ति लाहोटी) की न्यायपीठ ने 1997 की रिट याचिका (सी) संख्या 137 और संबद्ध मामलों में निर्णय दिया । यह ए. आई. आर. 2001 एस. सी. 1151 और (2001) 4 एस. सी. सी. 325 में प्रकाशित है ।

उक्त मामले में याचियों द्वारा किया गया मुख्य दावा यह

था कि जैसे मुस्लिमों और पारसियों को धारा 213 के प्रवर्तन से छूट दी गई है उसी प्रकार इस देश के भारतीय (?) क्रिश्चियनों को वैसे ही अपवाद का लाभ दिया जाए और यह कि इसे इस प्रकार घोषित किया जाए ।

यद्यपि न्यायपीठ द्वारा अनुरोध खारिज कर दिया गया लेकिन यह पता चला कि भारतीय संसद् ने अनुरोध को मानने और हमारे देश के नागरिकों अर्थात् क्रिश्चियनों के बड़े भाग को उपकृत करने में थोड़ा भी समय नहीं गंवाया ।

जो स्वाद मूर्ख के लिए है वही (या कम से कम, अवश्य ही) हंस के लिए भी होना चाहिए ।

ऐसा कोई सहज कारण प्रतीत नहीं होता कि क्यों संसद या केन्द्रीय कैबिनेट के संबद्ध मंत्रालय भारतीयों के मुख्य भाग अर्थात् हिन्दुओं के समानता के दावे की उपेक्षा करते हैं और उन्हें जंजीरों से आजाद होने के लिए सक्षम नहीं बनाते ।

यदि केवल चेन्नई, मुंबई या कोलकाता की संपत्तियों के संबंध में या इन शहरों के भीतर वसीयत करने वाले वसीयतदार की दशा में पूरे देश को अलग छोड़कर इस उपबंध द्वारा प्रोबेट को अपेक्षित बनाया गया है तो क्या यह उपबंध कालदोष से ग्रस्त प्रतीत नहीं होता?

इसके अतिरिक्त, जब एक सुभिन्न और न केवल जनसंख्या की अल्प प्रतिशतता इस नियम से प्रभावित होगी ।

यहां हम 1925 के अधिनियम की धारा 3 और इसके

पूर्ववर्ती 1865 के अधिनियम 10 की धारा 332 पर भी विचार कर सकते हैं जिसमें किसी मूलवंश, आदि के सदस्यों को, जिसे राज्य सरकार ऐसे उपबंध का लागू किया जाना असंभव या असमीचीन समझती है, धारा 212, 213 और 215 से 369 से अन्य लोगों के साथ-साथ प्रवर्तन से अधिसूचना द्वारा छूट प्रदान करने का उपबंध बनाया गया था। कोई भी सूक्ति – “विधि का औचित्य समाप्त हो जाने पर विधि भी समाप्त हो जाती है” – लागू कर सकता है (ब्रूम) क्या हम नहीं कर सकते।

हम यह अपने राज्य के अधिवक्ताओं के बड़े संगम अर्थात् मद्रास उच्च न्यायालय अधिवक्ता संघ और इसके पदाधिकारियों पर छोड़ते हैं कि वे मुद्दे को तमिलनाडु सरकार से 1925 के अधिनियम 39 की धारा 3 के अधीन अधिसूचना जारी करने और अपने लोगों के काफी भाग को मुक्ति दिलाने के लिए उठाएं।’

## 2. असमानता

2.1 उपरोक्त लेख और ला वीकली, मद्रास द्वारा प्रकाशित टिप्पण के परिशीलन से कलकत्ता, मद्रास और बम्बई स्थित उच्च न्यायालयों की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर जहां ऐसे विल उन सीमाओं के बाहर किए जाते हैं और जहां तक वे उन सीमाओं के भीतर स्थित स्थावर संपत्तियों के बारे में होते हैं, हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन और पारसी द्वारा निष्पादित बिलों की बाबत विल का प्रोबेट या प्रशासन पत्र अभिप्राप्त करने के मामले में हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन और पारसी के विरुद्ध स्पष्टतः विभेद प्रदर्शित होता है और प्रकट होता है, उसे

विद्वान लेखक ने हटाने की वकालत की ।

2.2 वादकारियों द्वारा भारी शुल्क देकर प्रोबेट या प्रशासन पत्र अभिप्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव किया गया है । जब भारत में कहीं भी स्थित संपत्तियों के बारे में भारत में कहीं भी कलकत्ता, मद्रास और बम्बई स्थित उच्च न्यायालयों की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के बाहर हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन और पारसी द्वारा निष्पादित विलों पर प्रोबेट या प्रशासन पत्र पर बल नहीं दिया जाता तो कलकत्ता, मद्रास और बम्बई उच्च न्यायालयों की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमा के भीतर हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन और पारसी द्वारा निष्पादित विलों की बाबत प्रोबेट या प्रशासन पत्र पर बल देने में कोई तार्किकता नहीं है और जहां ऐसे विल उन सीमाओं से बाहर किए जाते हैं जहां उनका संबंध उन सीमाओं के भीतर स्थित स्थावर संपत्ति से है ।

2.3 संविधान का अनुच्छेद 15 इस प्रकार है :-

“अनुच्छेद 15. (1) राज्य, किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा -

(2) कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर -

(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश, या

- (ख) पूर्णतः या भागतः राज्य-निधि से, पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग, के संबंध में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बंधन या शर्त के अधीन नहीं होगा ।
- (3) इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए कोई विशेष उपबंध करने से निवारित नहीं करेगी ।
- (4) इस अनुच्छेद की या अनुच्छेद 29 के खंड (2) की कोई बात राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष उपबंध करने से निवारित नहीं करेगी ।
- (5) इस अनुच्छेद या अनुच्छेद 19 के खंड (1) के उपखंड (छ) की कोई बात राज्य को, नागरिकों के सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े किसी वर्ग या अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति की अभिवृद्धि के लिए जहां तक ऐसे विशेष उपबंधों का अनुच्छेद 30 के खंड (1) में निर्दिष्ट अल्प शिक्षा संस्थाओं के अलावा, शिक्षा संस्था जिसके अंतर्गत प्राइवेट शिक्षा संस्थाएं, चाहे राज्य द्वारा सहायताप्राप्त या गैर सहायताप्राप्त हों, में उनके प्रवेश का संबंध है, विधि द्वारा कोई विशेष उपबंध बनाने से निवारित

नहीं करेगी ।

2.4 उपरोक्त अनुच्छेद धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करता है ।

2.5 भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 118 की संवैधानिक विधिमान्यता की चुनौती प्रेमन बनाम भारत संघ, ए. आई. आर. 1999 केरल 93 वाले मामले में केरल उच्च न्यायालय के समक्ष दी गई । यह तर्क किया गया कि उक्त उपबंध भारत के संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 25 और 26 का अतिक्रमणकारी होने के कारण असंगत और कालदोष से ग्रस्त है इसलिए, उक्त उपबंध असंवैधानिक होने के रूप में अभिखंडित किए जाने योग्य है । मामले का विनिश्चय माननीय न्यायमूर्ति डा. एआर.लक्ष्मणन (तत्कालीन) की अध्यक्षता वाली खंड न्यायपीठ द्वारा किया गया था । उच्च न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया -

“ इस मामले में, हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, जैन आदि के सभी वसीयतकर्ता के धार्मिक वसीयतों के संबंध में अधिनियम की धारा 118 इस प्रक्रिया के अधीन नहीं हैं और क्रिश्चियनों द्वारा की गई वसीयतों को अलग किया गया है । अतः, हम अभिनिर्धारित करते हैं कि धार्मिक और पूर्त वसीयतों के संबंध में भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 118 विभेदकारी है और संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 का अतिक्रमणकारी है और यह आवश्यक है कि ऐसे सभी वसीयतकर्ता जो समरूप स्थित हैं, को एक ही प्रक्रिया के अधीन रखा जाना चाहिए । अद्यतन विधि के अनुसार, कोई क्रिश्चियन अधिनियम की धारा 118 द्वारा विहित



शर्तों और प्रक्रियाओं का पालन किए बिना धार्मिक और पूर्त प्रयोजनों के लिए वसीयत नहीं कर सकता है । ऐसा भार, प्रक्रियात्मक भार या अधिष्ठायी विधि का भार हिन्दू, मुस्लिमों, जैन या पारसी वसीयतकर्ताओं पर नहीं है.....

हम घोषित करते हैं कि भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 118 : (क) क्रिश्चियन और गैर क्रिश्चियन के बीच विभेद करती है ; (ख) क्रिश्चियनों द्वारा वसीयती अधिकार और गैर-वसीयती अधिकार के बीच विभेद करती है ; (ग) संपत्ति के धार्मिक और पूर्त उपयोग और अन्य सभी उपयोग जिसके अंतर्गत ऐसे वांछनीय प्रयोजन नहीं हैं, के बीच विभेद करती है ; (घ) ऐसा क्रिश्चियन जिसके पास, भतीजा, भतीजी या नजदीकी नातेदार है और ऐसे क्रिश्चियन जिसके पास कतई कोई नातेदार नहीं है, के बीच विभेद करती है ; और (ङ.) ऐसा क्रिश्चियन जो विल के निष्पादन के 12 महीनों के भीतर मर जाता है, जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है के विरुद्ध विभेद करती है ।

अतः, हम घोषित करते हैं कि भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 118 असंगत और संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 25 और 26 का अतिक्रमणकारी होने के कारण कालदोष से ग्रस्त है । इसलिए, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 118 असंवैधानिक होने के कारण अभिखंडित की जाती है ।”

2.6 यह मामला एक रिट याचिका द्वारा उच्चतम न्यायालय में उठाया गया और *जान्ह वल्लामैटम बनाम भारत संघ ए. आई. आर. 2003 एस.*

सी. 2902 वाले मामले में भारत के मुख्य न्यायमूर्ति वी. एन. खरे, न्यायमूर्ति एस. बी. सिन्हा और न्यायमूर्ति एआर. लक्ष्मणन से मिलकर बनी न्यायपीठ द्वारा इसकी सुनवाई की गई। उच्चतम न्यायालय ने निर्णयों में अभिलिखित विस्तृत कारणों से रिट याचिका मंजूर की और भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 118 को संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 25 और 26 का अतिक्रमणकारी होने के कारण असंवैधानिक भी घोषित किया।

2.7 माननीय न्यायमूर्ति डा. एआर. लक्ष्मणन ने अन्य दोनों न्यायाधीशों से सहमत होते हुए एक पृथक् निर्णय दिया। अपने सहमत निर्णय में, उन्होंने भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के अधीन क्रिश्चियन समुदाय के सदस्यों के प्रति होने वाले उस विभेदकारी बर्ताव पर विस्तार से विचार किया जिसके द्वारा वे व्यावहारिक रूप से धार्मिक और पूर्त प्रयोजनों के लिए संपत्ति की वसीयत करने से निवारित हैं। निष्कर्ष निकालते हुए, उन्होंने यह मत व्यक्त किया :

“यद्यपि भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम को वसीयती अधिकार की सार्वभौमिक विधि होने का दावा किया जाता है लेकिन वस्तुतः महत्वपूर्ण धाराएं केवल क्रिश्चियनों को लागू होती हैं। दूसरे पक्ष की ओर से ऐसा कोई स्वीकार्य उत्तर नहीं है कि अधिनियम की धारा 118 अकेले क्रिश्चियनों को क्यों लागू बनायी गई है और अन्य लोगों को नहीं .....

भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम 30 सितम्बर, 1925 को प्रवृत्त हुआ। धारा 4 के अनुसार अधिनियम का भाग 2 लागू नहीं

होगा यदि मृतक हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, सिक्ख या जैन हो । अधिनियम के भाग III की धारा 20 पहली जनवरी, 1866 के पूर्व हुए किसी विवाह को लागू नहीं होती है ; और किसी विवाह को कभी लागू हुई नहीं समझी जाती है जिसके एक या दोनों पक्षकार विवाह के समय हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, सिक्ख या जैन धर्म मानते हैं । अधिनियम के भाग IV की धारा 23 के अनुसार वह भाग पहली जनवरी, 1866 के पूर्व किए गए किसी विल या हुए निर्वसीयत या किसी हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, सिक्ख, जैन या पारसी के संपत्ति को निर्वसीयत या वसीयती उत्तराधिकार लागू नहीं होगा । इसी प्रकार, अधिनियम के भाग 5 की धारा 29 के अनुसार वह पहली जनवरी, 1886 के पूर्व हुए किसी निर्वसीयत या किसी हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, सिक्ख या जैन संपत्ति को लागू नहीं होगी । 1991 के अधिनियम 51 द्वारा पारसियों को अधिनियम की धारा 118 को लागू होने से अपवर्जित किया गया था । इस प्रकार यह देखने में आता है कि विहित प्रक्रिया अकेले क्रिश्चियनों को लागू बनाई गई है । प्रत्यर्थी की ओर से भी कोई स्वीकार्य उत्तर नहीं दिया गया है कि क्यों यह केवल धार्मिक और पूर्त वसीयतों और वह भी अकेले क्रिश्चियनों के वसीयतों को विनियमित करता है । मेरी दृष्टि से संपूर्ण मामला अकेले क्रिश्चियन वसीयतकर्ताओं पर असम्यक्, कठोर और विशेष भार पर आधारित है । मूल निर्बधन कतिपय घटनाओं के आधार पर अधिरोपित किया गया है जिस पर वसीयतकर्ता का कोई नियंत्रण नहीं है । अतः मुझे यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि सभी

वसीयतदार जो समान हैं के प्रति धार्मिक और पूर्त वसीयतों से संबंधित अधिनियम की धारा 118 एक जैसी प्रक्रिया के अधीन होना चाहिए। वर्तमान विधि के अनुसार कोई क्रिश्चियन अधिनियम की धारा 118 द्वारा विहित शर्तों और प्रक्रियाओं का पालन किए बिना धार्मिक या पूर्त प्रयोजनों के लिए वसीयत नहीं कर सकता। ऐसा कोई भार, प्रक्रियागत भार या अधिष्ठायी विधि भार हिन्दू, मुस्लिम, जैन या पारसी वसीयतकर्ताओं पर नहीं है.....

यही प्रश्न केरल उच्च न्यायालय के समक्ष उठाया गया था।

यह ध्यान देना प्रासंगिक है कि इसमें प्रत्यर्थी अर्थात् भारत संघ द्वारा केरल उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं की गई। तारीख 16.10.1998 के केरल उच्च न्यायालय के निर्णय के पश्चात् भी संसद ने विभेद दूर नहीं किया। ऐसी परिस्थितियों में, मेरी राय में यह न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग करते हुए और मूल अधिकारों के अतिक्रमण को हटाते हुए आक्षेपित उपबंध को अविधिमान्य और संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 25 और 26 का अतिक्रमणकारी घोषित करने के लिए आबद्ध है। पूर्वगामी कारणों से मैं माननीय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से ससम्मान सहमत हूँ कि अधिनियम की धारा 118 असंवैधानिक है और असंवैधानिक होने के कारण अभिखंडित किए जाने योग्य है.....

परिणामतः रिट याचिका मंजूर की जाती है।”

2.8 भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 213 की उपधारा 2 को “मुस्लिमों” शब्द के पश्चात् “या भारतीय क्रिश्चियनों” शब्द अंतःस्थापित कर भारतीय उत्तराधिकार संशोधन (अधिनियम 2002) द्वारा संशोधित किया गया है। परिणाम यह है कि भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 213 की उपधारा (1) का उपबंध जो निष्पदादक या वसीयतदार के रूप में अधिकार स्थापित करने के लिए सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा उपाबद्ध विल की प्राधिकृत प्रति की प्रति के साथ ऐसे विल के प्रोबेट या विल के साथ प्रशासन पत्र की मंजूरी आवश्यक बनाता है, अब न केवल मुस्लिमों द्वारा बल्कि भारतीय क्रिश्चियनों द्वारा भी बनाए गए विलों को लागू नहीं है। लेकिन यह उपबंध निम्न को लागू बना हुआ है —

- (i) किसी हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख या जैन द्वारा किए गए विलों की दशा में जहां ऐसे विधेयक धारा 57 के खंड (क) और (ख) में विनिर्दिष्ट वर्गों के हैं अर्थात्, 1 सितम्बर, 1870 को या उसके पश्चात् ऐसे राज्यक्षेत्रों में किए गए विल या कोडपत्र जो उक्त तारीख को बंगाल के लैफ्टिनेन्ट गवर्नर के अधीन या मद्रास और मुंबई उच्च न्यायालय की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता के भीतर आते थे और ऐसे सभी विलों और कोडपत्रों को जो ऐसे राज्यक्षेत्र या सीमाओं के बाहर किए गए हैं, जहां तक उनका संबंध उन राज्यक्षेत्रों या सीमाओं के भीतर स्थित स्थावर संपत्ति से है ; और
- (ii) भारतीय उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, 1962 के प्रारंभ के पश्चात् मरने वाले किसी पारसी द्वारा किए गए विलों

के मामलों में, जहां ऐसे विल कलकत्ता, मद्रास और मुंबई स्थित उच्च न्यायालयों की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर किए गए हैं और जहां ऐसे विल उन सीमाओं के बाहर किए गए हैं और जहां उनका संबंध उन सीमाओं के भीतर स्थावर संपत्ति से है।

### 3. सिफारिशें

3.1 इस प्रकार यह देखने में आता है कि यहां विभेद है और हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन या पारसी द्वारा किए गए विलों की बाबत कोई एकरूपता नहीं है जहां ऐसा विल कलकत्ता, मद्रास और मुंबई स्थित उच्च न्यायालयों की मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता के राज्य क्षेत्र के भीतर किया जाता है और जहां ऐसे विल उन राज्य क्षेत्रों के बाहर किए जाते हैं जहां तक उनका संबंध उन राज्य क्षेत्रों के भीतर स्थित स्थावर संपत्तियों से है। अतः भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 213 संविधान के अनुच्छेद 15 का अतिक्रमणकारी होने के कारण अभिखंडित किए जाने योग्य है। अतः आयोग कानून से संपूर्ण धारा 213 के निरसन का प्रस्ताव करता है।

3.2 हम तदनुसार सिफारिश करते हैं।

ह/-

( डा. न्यायमूर्ति एआर. लक्ष्मणन )

अध्यक्ष

ह/-

( डा. ब्रह्म ए. अग्रवाल )

सदस्य-सचिव

तारीख :- 30 जुलाई, 2008.